

शिक्षकों का वृत्ति-धर्म

(अजित नारायण त्रिपाठी, संस्थापक समन्वयक, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-10, उत्तर प्रदेश, भारत)

Abstract

This paper is related to professional responsibilities of teachers. These are mainly related to students, institution, society and tradition of knowledge. This paper mainly focuses on these four aspects. Author concludes with the remark that problems in universities are mainly due to lack of commitment of teachers towards their profession.

Key-words : Teachers, Profession.

शीर्षक में प्रयुक्त शब्द, 'वृत्ति-धर्म', सामान्य भाषा में प्रचलित शब्द नहीं है। अतः इसे परिभाषित करने की आवश्यकता है। वृत्ति शब्द का अर्थ है पेशा अथवा जीविकोपार्जन का साधन। आज के समाज में नाना प्रकार की वृत्तियाँ हैं। अधिकांश पारम्परिक वृत्तियाँ श्रम, कारीगरी या हुनर पर आधारित हैं। इनकी तुलना में ज्ञान पर आधारित विशेषज्ञ वृत्तियों को, जैसे चिकित्सकों, अधिवक्ताओं, अभियंताओं, शिक्षकों आदि की वृत्तियों को, अधिक आदर एवं महत्व दिया जाता है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि इन विशेषज्ञ वृत्तियों को अपनाने के लिए अधिक शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता होती है। इनके अपने व्यवस्थित और विशिष्ट ज्ञान-शास्त्र हैं, जिन्हें उच्च शिक्षा के द्वारा अर्जित करना होता है। साथ ही इन वृत्तियों से जुड़े व्यावहारिक कौशल भी सीखने होते हैं। अतः कुछ प्रबुद्धजन ही इन वृत्तियों को अपना पाते हैं। सामाजिक सम्मान का दूसरा कारण यह है कि ये उच्चतर वृत्तियाँ केवल जीविकोपार्जन का साधन ही नहीं हैं। इनके अपने सामाजिक आदर्श हैं, नैतिक मूल्य-मर्यादाएँ हैं। इनका मुख्य उद्देश्य धनार्जन नहीं है, वरन् अपने विशिष्ट ज्ञान-कौशल द्वारा समाज की सेवा करना है। इस सेवा भाव से काम करना तथा अपनी वृत्ति के नैतिक दायित्वों का एवं उसकी मूल्य मर्यादाओं का निष्ठापूर्वक अनुपालन करना, सभी वृत्तिक सदस्यों का धर्म होता है। वृत्तिक आदर्शों के प्रति समर्पण के इस भाव को हम वृत्ति-धर्म की संज्ञा दे रहे हैं। कहना न होगा कि यहाँ हम धर्म शब्द का प्रयोग आस्था-विश्वास, ईश भक्ति, पूजा-पद्धति आदि के अर्थ में नहीं, वरन् नैतिक दायित्व बोध के अर्थ में कर रहे हैं।

शिक्षकों के वृत्ति-धर्म का मुख्य तात्पर्य है, शैक्षिक वृत्ति और शिक्षा व्यवस्था के नैतिक दायित्वों को जानना-समझना और उनका निष्ठापूर्वक अनुपालन करना। शिक्षा व्यवस्था के कई स्तर हैं। उसकी कुछ मूल्य-मर्यादाएँ तो सभी स्तरों के लिए एक ही हैं, पर कुछ में अंतर है। यहाँ हम मुख्यतः विश्वविद्यालय स्तर की उच्च शिक्षा व्यवस्था और उससे जुड़े विद्वानों और शिक्षकों के नैतिक दायित्वों की चर्चा करेंगे। इन दायित्वों को चार वर्गों में रखकर समझा जा सकता है। ये हैं,

1. विद्यार्थियों के प्रति दायित्व
2. शैक्षिक संस्था के प्रति दायित्व
3. समाज के प्रति दायित्व
4. ज्ञान परम्परा और उसकी मूल्य-मर्यादाओं के प्रति दायित्व

1. विद्यार्थियों के प्रति दायित्व

शिक्षक का प्रथम दायित्व है विद्यार्थियों को सुशिक्षित करना। इन सुशिक्षा का पहला स्तर है पाठ्य-विषय का समुचित ज्ञान कराना, यानी उन्हें विषय-वस्तु के तथ्यों संकल्पनाओं, परिभाषाओं, सिद्धान्तों आदि की सम्यक जानकारी देना। पर केवल जानकारी दे देना ही पर्याप्त नहीं है। यह तो विद्यार्थी पुस्तकों से भी प्राप्त कर सकता है। तथ्यात्मक जानकारी से कहीं अधिक आवश्यक है उस विषय की 'समझदारी' विकसित करना। अर्थात् उस ज्ञान का क्या मर्म, क्या महत्व है, क्या सही उपयोग है, क्या उसकी तर्क शैली है, आदि को समझना। ऐसी समझदारी से व्यक्ति अपने विषय में प्रवीण होता है, पारंगत होता है। पर आज प्रायः हम जानकारी के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाते। समझदारी विकसित करने में शिक्षक की रुचि कम होती है। और विद्यार्थी की तो उससे भी कम। क्योंकि अच्छे नंबरों से परीक्षा पास कर लेने के

लिए जानकारी ही पर्याप्त होती है।

शिक्षक का गुरुतर दायित्व है विद्यार्थी को अपने विषय का 'विद्वान' बना देना। ऐसी विद्वता तब आती है जब विद्यार्थी में जानकारी और समझदारी से भी आगे बढ़कर समालोचनात्मक और विवेचनात्मक क्षमता विकसित होती है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी को स्वतंत्र अध्ययन, चिंतन, मनन के लिए प्रेरित किया जात। उसके सामने चुनौतिपूर्ण प्रश्न रखे जायं, और उसे स्वतंत्र लेखन के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इस प्रयास में वह ज्ञानार्जन के साथ-साथ ज्ञान सृजन में भी सक्षम हो जाएगा। विद्यार्थी को इस स्तर तक ले आ देना जहाँ वह स्वप्रयास से ही ज्ञानार्जन और ज्ञानसृजन के मार्ग पर आगे बढ़ सके, यही सुशिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। विद्यार्थी के मन में विद्यार्जन के प्रति ऐसी ललक पैदा कर देना तभी संभव होगा जब स्वयं शिक्षक के मन में भी ज्ञान के प्रति वही उत्साह और निष्ठा हो। एक अच्छा शिक्षक जीवन पर्यन्त विद्यार्थी होता है। कहा भी गया है कि एक जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को प्रज्वलित कर सकता है।

किसी एक विषय का भलीभांति ज्ञान प्रदान करके विद्यार्थी को उस विषय में पारंगत बना देना शिक्षा व्यवस्था और शिक्षक के दायित्व का एक स्तर है। पर इस प्रक्रिया द्वारा विद्यार्थी की बौद्धिक क्षमता का विकास करना उसका उच्चतर स्तर है। समय के साथ विषय-विशेष का ज्ञान तो बदलता रहता है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में यह परिवर्तन अधिक गतिमान होता है। आज का सीखा हुआ ज्ञान कुछ ही वर्षों में अप्रासंगिक हो जाता है। पर बौद्धिक कौशल जीवन पर्यन्त हमारा साथ देता है। इसके सहारे हम किसी भी नए विषय का ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। केवल ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में ही नहीं, विकसित बुद्धि वाले लोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में सामने आने वाली समस्याओं का सही विश्लेषण कर सकते हैं, उनका समुचित समाधान ढूँढ सकते हैं, और भविष्य की चुनौतियों का सामना कर सकते हैं। ऐसे बुद्धिमान, सुयोग्य और सक्षम व्यक्तियों का निर्माण करना ही उच्च शिक्षा के गुणवत्ता की सच्ची कसौटी है। व्यक्ति निर्माण का यह दायित्व कक्षा में मात्र नोट्स लिखा देने से पूरा नहीं होता।

बौद्धिक विकास के साथ-साथ विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण करना तथा उनकी सामाजिक, नैतिक चेतना का विकास करना विश्वविद्यालयों एवं शिक्षकों के दायित्वों का एक प्रमुख आयाम है। विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षाप्राप्त विज्ञानों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने ज्ञान और कौशल द्वारा समाज का हित करेंगे, उसके उत्थान में सहायक होंगे। पर सामाजिक-नैतिक चेतना के अभाव में वे केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के प्रति ही सचेष्ट रहते हैं। ऐसे स्वार्थ प्रेरित और स्वकेन्द्रित लोग देश को, समाज को, कुछ दे नहीं पाते। उल्टे अपनी बौद्धिक क्षमता और चतुराई से समाज का शोषण ही अधिक करते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे समाज का अहित करने में भी कोई संकोच नहीं करते। देश में बढ़ता भ्रष्टाचार एवं नाना प्रकार के घोटाले इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त, पर नैतिक-मानवीय संवेदनाओं से शून्य, ऐसे कुशल आधुनिक जनों को एक अमेरिकी विद्वान ने Skilled barbarians कहा है। यह शब्द कठोर लग सकता है पर यथार्थ से बहुत दूर भी नहीं है।

नैतिक मूल्यों का समाविष्ट किए बिना केवल बौद्धिक, शिक्षा से व्यक्ति और समाज का हित नहीं हो सकता। इस बात को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने भलीभांति समझ लिया था। आज से सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित, विश्वविद्यालय की परिचायिक में उन्होंने लिखा था :

“Formation of character is even more important for the well being of the individual and of the community. Mere industrial advancement cannot ensure happiness and prosperity to any people... Therefore moral progress is more necessary than material progress. Hence it is that the proposed university has placed formation of character in youth as one of its principal objects. It will seek not merely to turn out men as engineers, scientists, doctors, merchants, lawyers, but also as men of high character, probity and honour. It will be a nursery of good citizens instead of only a mint for hall-marking a certain standard of knowledge.”

विश्वविद्यालय को सुयोग्य, सच्चरित्र और मूल्यनिष्ठ नागरिकों की पौधशाला बनाने के इस स्वप्न को कैसे साकार किया जाय, यह आज हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को स्वीकार करके उसके अनुरूप शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयास करना आज विश्वविद्यालयों और उसके शिक्षकों का परम दायित्व है।

2. संस्था के प्रति दायित्व

शिक्षक किसी विश्वविद्यालय या अन्य शैक्षिक संस्था का वेतनभोगी कर्मचारी होता है। संस्था उसे आजीविका देती है। साथ ही एक उच्च स्तर का सामाजिक दर्जा भी देती है। विश्वविद्यालय का शिक्षक होने के कारण ही उसे

सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। अतः यह अपेक्षित है कि उसके मन में अपनी संस्था के प्रति कृतज्ञता का भाव हो। इस भाव से प्रेरित व्यक्ति निष्ठापूर्वक संस्था की सेवा करेगा, उसके उद्देश्यों को आगे बढ़ायेगा और संस्था के उत्थान में अपना पूर्ण योगदान करेगा। इस सेवाभाव और निष्ठाभाव से प्रेरित शिक्षक संस्था के हित को अपने हित के ऊपर रखेगा। कोई भी ऐसा काम नहीं करेगा जिससे संस्था की गरिमा को आंच आती हो। नैतिकता का यह आग्रह है कि हम संस्था से जितना कुछ पाते हैं, उससे अधिक ही संस्था को दें, उससे कम नहीं। पर यह एक विडंबना है कि शिक्षकों के एक वर्ग का आचरण इस भावना के विपरीत होता है। ऐसा लगता है जैसे उनका आदर्श वाक्य हो, “संस्था से जितना अधिक ले सकते हो, ले लो, पर उसे दो केवल उतना ही जिससे नौकरी बची रहे।”

संस्था के प्रति दायित्वों का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है, अनुशासन। संस्था द्वारा निर्दिष्ट और अपेक्षित सभी कामों को पूरी लगन और ईमानदारी से करना शिक्षक का नैतिक दायित्व है। इन कामों में शैक्षणिक और शिक्षणोत्तर दोनों तरह के काम शामिल होते हैं। प्रत्येक संस्था के अपने नियम-कानून, काम करने के तौर-तरीके होते हैं। संस्था आशा करती है कि उसके कर्मचारियों का आचरण इनके अनुरूप होगा। इसी प्रकार संस्था के कर्मचारियों, अधिकारियों और शिक्षकों में छोटे-बड़े का एक पदानुक्रम होता है। इसकी मर्यादाओं का अनुपालन करना भी शिक्षकों का दायित्व होता है। यह उनके हित में भी है। क्योंकि आज जो कनिष्ठ है कल वही वरिष्ठ होगा। और जो अपने से वरिष्ठ जनों को सम्मान देता है, वही आगे चलकर अपने से कनिष्ठ लोगों का सम्मान पाता है।

विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा के अन्य उत्कृष्ट संस्थानों की कार्य संस्कृति सरकारी विभागों अथवा व्यापारिक संस्थानों की कार्य-संस्कृति से भिन्न होती है। शिक्षण, शोध एवं अन्य अकादमिक कार्यों में लगे विद्वानों एवं शिक्षकों के बीच गैर-बराबरी का भाव कम होता है। इसमें अपने से कनिष्ठ सहयोगियों पर ‘बॉस’ की भांति हुक्म चलाने और रौब जमाने की प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उत्कृष्ट अकादमिक कार्य करने वाले विभागों में एक-दूसरे के साथ मिलजुलकर, परस्पर आदरभाव से, आम सहमति बनाकर काम करने का वातावरण बने रहना चाहिए। ऐसे वातावरण के सृजन में सहायक बनना सभी शिक्षकों का नैतिक दायित्व है। इसमें वरिष्ठ शिक्षकों का दायित्व अधिक होता है। उनसे योग्यता और मूल्यनिष्ठा के साथ-साथ नेतृत्व क्षमता की भी अपेक्षा की जाती है। टीम भावना को प्रोत्साहित करते हुए प्रेरणादायक उत्कृष्ट अकादमिक कार्य-संस्कृति विकसित करने के लिए कुशल नेतृत्व प्रदान करना, विभागाध्यक्ष, संकाय-प्रमुख एवं कुलपति पद पर आसीन वरिष्ठजनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व है। इसी से कोई संस्था आगे बढ़ती है, उच्च कोटि के विद्वानों और शोधकर्ताओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और इन सभी के सम्मिलित प्रयासों से संस्था उत्कृष्टता की ओर उन्मुख होती है।

3. समाज के प्रति दायित्व

विश्वविद्यालयीय शिक्षा-व्यवस्था एक सामाजिक संरचना है। इसे समाज ने अपनी कुछ महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्थापित किया है। इसमें प्रमुख हैं, समाजतंत्र को सुचारु रूप से चलाते रहने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान-कौशल से युक्त व्यक्तियों का सृजन करना, ऐसे लोगों को तैयार करना जो सामाजिक-आर्थिक विकास को आगे बढ़ा सकें, उसे अधिक गतिमान बना सकें, और इसमें आने वाले नयी चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकें। इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालय से निकले उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की बौद्धिक क्षमता एवं कार्यकुशलता के साथ-साथ सामाजिक-चेतना भी विकसित हो, वे समाज को अपना समझें, अपने सामाजिक दायित्वों को जाने और स्वीकार करें, और जिनके मन में अपने ज्ञान-कौशल से एक बेहतर समाज बनाने का उत्साह हो। ऐसे उच्चकोटि के प्रबुद्ध, सक्षम और संवेदनशील ‘मानव संसाधन’ का विकास करना विश्वविद्यालय और उसके शिक्षकों का प्रमुख सामाजिक दायित्व है।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय में पठन-पाठन के विषय और शोध कार्य हमारे अपने समाज की आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर तय किए जायं। वैसे तो ज्ञान-विज्ञान का एक बड़ा भाग सार्वभौमिक होता है पर उसमें बहुत कुछ ऐसा भी होता है जो हर समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करता है। नयी पीढ़ी को देने के लिए इस विशाल ज्ञान भण्डार से क्या चयनित किया जाता है और उन्हें किस रूप में प्रस्तुत किया जाता है यह भी देश-काल में मान्य सामाजिक-सांस्कृतिक दर्शन से प्रभावित होता है। पश्चिमी विश्वविद्यालयों का अंधानुकरण करने में हम उनके ज्ञानशास्त्र की सीमाओं को और उनमें छिपे पूर्वाग्रहों को प्रायः नहीं पहचान पाते। हम मान लेते हैं कि उनके शैक्षिक कार्यक्रम हमारे लिए भी उपादेय हैं। इस औपनिवेशिक मानसिकता के कारण हम अपने समाज से अन्याय कर जाते हैं। इस कारण कई ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष उपेक्षित हो जाते हैं जिन पर

अकादमिक अध्ययन, शोध आदि अपने देश के लिए, विशेषतः आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए बड़ा लाभकारी होगा। उदाहरण के लिए, हमारे कारीगरों की पारम्परिक तकनीकी को कैसे आधुनिक विज्ञान के द्वारा अधिक विकसित किया जाय, उसकी उत्पादकता और गुणवत्ता बढ़ायी जाय, उसे आधुनिक मांग के अनुरूप परिवर्तित किया जाय, ऐसा ज्ञान हमारे लिए बहुत उपयोगी होगा। पर ऐसे विषयों पर अपने विश्वविद्यालयों में कोई उल्लेखनीय काम नहीं हो रहा है। यह दिखाता है कि हमारे विश्वविद्यालय और उनके शिक्षक वर्ग अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति कम सजग हैं।

विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध विद्वानों एवं शिक्षकों का एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व है, सामाजिक गतिविधियों की निष्पक्ष, नीतिसम्मत और विवेकपूर्ण समालोचना करना। अपने ज्ञान और तर्कशक्ति के द्वारा वे इन गतिविधियों के कारकों को, उनके छिपे हुए पहलुओं को और उनके दूरगामी परिणामों को देख-समझ सकते हैं और उन्हें उजागर कर सकते हैं। आज के जटिल समाज में प्रायः आर्थिक और राजनैतिक शक्तियाँ अपने निहितार्थ को पूरा करने के लिए लोक-लुभावने नारों और कार्यक्रमों से सामान्य जनता को भ्रमित करने का प्रयास करती रहती हैं। इनसे जनता को आगाह करना, और लोकहित के सजग प्रहरी के रूप में काम करना भी प्रबुद्धजन का दायित्व है। लोकतंत्र की सफलता के लिए बुद्धिजीवियों द्वारा सामाजिक समालोचना का यह दायित्व निभाना नितांत आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्वानों और शिक्षकों की योग्यता एवं निष्पक्षता में सामान्यजन का विश्वास हो। पर इस विश्वसनीयता पर आज कई प्रश्नचिन्ह लगे हैं। इन्हें हमें सप्रयास दूर करना होगा।

अपने सामाजिक दायित्वों को निभाने के लिए शिक्षकों को समाज से जुड़े रहना होगा। केवल अपने ज्ञान-विशेष की सीमाओं में बंधकर, उसके बौद्धिक-सैद्धान्तिक-तार्किक तानेबाने के **ivory tower** में रहकर वे समाज हित के लिए कार्य नहीं कर पाएंगे। उन्हें सामाजिक गतिविधियों, हलचलों, परिवर्तन की प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से रूचि लेनी होगी, उनपर चिंतन-मनन, विचार-विमर्श करना होगा और इस मंथन से उपजे विचारों को समाज के सामने प्रभावी तरीके से प्रस्तुत करना होगा। एक अच्छे समाज में परिवर्तन की दिशाओं और कार्यक्रमों को तय करने में सामान्य जन और विद्वज्जनों के ऐसे सामुदायिक 'जन संवाद' की महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

4. ज्ञान परम्परा एवं उसके मूल्य – मर्यादाओं के प्रति दायित्व

विश्वविद्यालयों के विद्वानों एवं शिक्षकों के दायित्वों का क्षेत्र विद्यार्थी, संस्था, देश एवं समाज तक ही सीमित नहीं है। इनसे भी आगे और इनसे भी अधिक विस्तृत एक क्षेत्र है जिसके प्रति उनकी निष्ठा सर्वोपरि होनी चाहिए। वह क्षेत्र है विद्या और ज्ञान की निरंतर प्रवाहमान परम्परा का। आज के विद्वज्जन इसी परम्परा की आधुनिक कड़ी हैं। वे ही इस ज्ञान प्रवाह को भूत से भविष्य तक जोड़ते हैं। मानव सभ्यता के विकास क्रम में सृजित ज्ञान के विशाल ज्ञानकोष के संरक्षक और संवाहक विश्वविद्यालय के विद्वान शिक्षक ही हैं। इस कोष को अक्षुण्ण बनाये रखना, इसकी अभिवृद्धि करना, उसे नयी धाराओं, उपधाराओं में प्रवाहित करना और उसकी गरिमा को बनाये रखना शिक्षकों का परम धर्म है। अपनी वृत्ति को इस परम्परा के प्रति समर्पण के पवित्र भाव से देखने में, और उसे केवल जीविकोपार्जन का माध्यम के रूप में देखने में जमीन-आसमान का अंतर है। ज्ञान-परम्परा के अपने विशिष्ट और उत्कृष्ट मूल्य हैं। इन मूल्यों के अनुरूप आचरण करना सभी विद्वानों, शिक्षकों, शोधकर्ताओं का दायित्व है।

ज्ञान परम्परा का पहला मूल्य है बौद्धिक ईमानदारी। इस मूल्य के कई भाव हैं। इनमें एक है, किसी भी ज्ञान, विचार अथवा सिद्धान्त की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करके, उसे भली-भांति सत्यापित करके ही उसका प्रतिपादन करना। इसके लिए आवश्यक है कि विद्वज्जन तटस्थ, तथ्याधारित और वस्तुनिष्ठ व्याख्या और सत्यानुसंधान करें। तथ्यों से छेड़छाड़ करना, अपने अनुकूल तथ्यों को चुनना और अन्य की जानबूझ कर अनदेखी कर देना, बौद्धिक बेईमानी है। इसी प्रकार कई विद्वान सभी प्रश्नों घटनाओं एवं समस्याओं की व्याख्या किसी एक विचारधारा या आइडियोलॉजी के आधार पर ही करते दिखते हैं। ऐसा लगता है कि वे एक स्वतंत्र चिंतक न होकर किसी विचारधारा के प्रचारक हों। सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों के विद्वानों में प्रायः ऐसे पूर्वाग्रह देखने को मिलते हैं। इस प्रकार का वैचारिक-बौद्धिक खेमावाद ज्ञान परम्परा के मूल्यों के विपरीत है।

बौद्धिक ईमानदारी का दूसरा भाव है, अन्य विद्वानों और शोधकर्ताओं को उनके योगदान का उचित श्रेय देना। ऐसा किए बगैर दूसरे के विचारों को अपनी प्रस्तुति या लेखन में शामिल कर लेना बौद्धिक चोरी है। संयुक्त प्रयास में किसका कितना योगदान है, यह भी स्पष्ट होना चाहिए। शोध पत्रों के प्रकाशन में कुछ लोग बिना कुछ किए हुए भी अपना नाम छपवा लेते हैं। कई शोध निर्देशक भी इस प्रकार का दुष्कार्य करते हुए देख जाते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार किसी विषय का ज्ञान न रहते हुए भी कुछ लोग यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वे उसके ज्ञाता हैं। या

जितना जानते हैं उससे कहीं अधिक जताने का प्रयास करते हैं। विद्यार्थियों द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कई शिक्षक यह कहने में संकोच करते हैं कि इसका उत्तर मुझे नहीं मालूम है। एक अच्छे विद्वान तथा शिक्षक को इन दुर्गुणों से ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिए।

बौद्धिक ईमानदारी से ही मिलता-जुलता ज्ञान परम्परा का एक दूसरा मूल्य है, बौद्धिक और वैचारिक खुलापन। एक ही विषय पर दृष्टि-भेद के कारण अलग-अलग विद्वानों के मत भिन्न होते हैं। अपने विचारों से भिन्न विचारों को भी उचित आदर और महत्व देना एक अच्छे विद्वान का लक्षण है। अपने किसी विचार या शोध में त्रुटि सिद्ध हो जाने पर, या उससे बेहतर विचार सामने आ जाने पर, अपनी गलती या कमी को सहर्ष और शालीनतापूर्वक स्वीकार कर लेना, वैचारिक खुलापन है। विद्या और ज्ञान निरंतर गतिमान धारा की भांति होते हैं। पुराने और स्थापित सिद्धान्त, विचार, मत, शास्त्र, संशोधित होते रहते हैं, परिवर्तित होते रहते हैं। कोई भी ज्ञान केवल दीर्घ काल से मान्यता प्राप्त हो जाने के कारण ही सत्य नहीं हो जाता। इस सत्य को आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही नहीं मान्यता दी है। आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले महाकवि कालिदास ने कहा था, 'पुराणमित्येव न साधु सर्व'। विद्वानों और शिक्षकों में ऐसा बौद्धिक खुलापन होना चाहिए कि वे पुराने ज्ञान से, विचारों से अनावश्यक रूप से न चिपक कर नए ज्ञान का सहर्ष स्वागत कर सकें।

विद्या से परिष्कृत व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण है। विनम्रता। संस्कृत का प्रसिद्ध नीति-वाक्य है :

विद्या ददाति विनयम् । और, विद्यया न प्रमदितव्यम् ।

अपने ज्ञान का अहंकार विद्वानों का सबसे बड़ा दुर्गुण और शत्रु है। ऐसे अहंवादी जन आत्मप्रशंसा और आत्मतुष्टि में ही निमग्न रह जाते हैं। अपने को सर्वज्ञ मानकर दूसरों को अपने से तुच्छ समझने लगते हैं। पर वास्तविक विद्या प्रेमी वह है जो विद्यार्थी भाव से सदैव और सबसे सीखता रहता है और अपने ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि करता रहता है। सभी बड़े विद्वानों के व्यक्तित्व में विनम्रता का भाव परिलक्षित होता है। इस युग के महानतम वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने बारे में लिखा है,

“मैं तो एक छोटे बालक की भांति समुद्र तट पर पत्थर के कुछ एक सुन्दर टुकड़ों और सीपों को बटोरने में ही निमग्न रह गया, जबकि ज्ञान का अथाह सागर मेरे सामने अछूता लहरा रहा था।”

इसी भाव से भर्तृहरि ने दो हजार वर्ष पहले कहा था –

यदा किञ्जितअज्ञोहं द्विप इव मदाधःसमभवं

तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदव लिप्तं मम मनः।

यदा किञ्चित्किञ्चित् बुधजन सकाशादवगतं

तथा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इए मदो में व्यपगतः।।

(जब मैं थोड़ा जानता था, तब मैं मदोन्मत्त हाथी की तरह घमण्ड में अंधा होकर अपने को सर्वज्ञ समझता था। लेकिन जब मैंने विद्वानों की संगति में कुछ जाना और सीखा तब मुझे मालूम हो गया कि मैं तो निरा मूर्ख हूँ, उस समय मेरा मद ज्वर की तरह उतर गया।)

उपसंहार

हमारी विश्वविद्यालयीय शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता की जो कमी दिखायी देती है उसका एक प्रमुख कारण है, शिक्षक वर्ग में अपने वृत्ति-धर्म के प्रति निष्ठा भाव की कमी। वृत्ति के मूल्य विषयक प्रश्नों पर चर्चा और चिंतन के लिए हमारी व्यवस्था में न तो कोई स्थान है और नहीं ही कोई आग्रह। शिक्षक वर्ग भी अपने अधिकारों के लिए, जल्दी से जल्दी प्रोन्नति और कैरियर में आगे बढ़ जाने के लिए तथा कुछ बेहतर सुविधाएं पा लेने के लिए ही अधिक सचेष्ट दिखते हैं। अतः यह आवश्यक है कि उनमें अपनी वृत्ति के आदर्शों और उसके दायित्वों के प्रति निष्ठाभाव को सप्रयास जागृत किया जाय और इन दायित्वों के निर्वहन को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी व्यवस्थागत उपाय किए जायें। इस अत्यावश्यक कार्य के लिए सुविचारित कार्यक्रम बनाना तथा उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना शिक्षाविदों और शैक्षिक नीति निर्धारकों के लिए एक बड़ी चुनौती है। आशा करनी चाहिए कि वे इस चुनौती को स्वीकार करेंगे। क्योंकि शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता को और उससे निकले हुए व्यक्तियों के समन्वित मानवीय व्यक्तित्व को, बेहतर बनाए बिना हम देश को उत्कृष्टता की ओर नहीं ले जा सकते, एक सभ्य, मानवोचित समाज नहीं बना सकते।